कविता के
नये प्रतिमान




राजकमल प्रकाशन

दिल्ली ६ पटना ६

# कविता के नये प्रतिमान

नामवरसिंह



प्रथम संस्करण १९६८



मूल्य रु० १०.००



प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली ६



शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस
के १८ नवीन शाहदरा दिल्ली २

मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्मसम्भवा

गजानन माधव मुक्तिबोध

की याद में

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं
धी पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती ।
अलं तदाद्य परिकल्पिताना
विवेकसोपानपरम्पराणाम् ॥

चित्रं निरालम्बनमेव मन्य
प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम् ।
तन्मार्गलाभे सति सेतुबन्ध—
पुरप्रतिष्ठादि न विस्मयाय ॥

तस्मात् सतामत्र न दूषितानि
मतानि तान्येव तु शोधितानि ।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु
मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥

श्रान्ति का अनुभव न करने वाली विवेचकों की बुद्धि ऊपर ऊपर चढते हुए अन्त में जिस अर्थ-तत्त्व को देखती है उस तक पहुंचाने वाली परिकल्पित विवेक के प्रारम्भिक सोपानों की परम्परा का क्या महत्त्व ?

मानता हूं कि प्रमेय की सिद्धि का प्रथम प्रयास विचित्र और निराधार भी होता है किन्तु उस मार्ग में अग्रसर होने पर उसके ऊपर सेतुओं नगरों आदि का निर्माण भी विस्मयकारी नहीं रह जाता ।

इसलिए यहां प्राचीन आचार्यों के मतों का खण्डन नहीं बल्कि संशोधन किया गया है । पूर्व प्रतिष्ठापित सिद्धान्तों की योजना में भी मूल की प्रतिष्ठा का फल मिलता है ।

अभिनव भारती

# भूमिका

कविता के नये प्रतिमान आलोचना के उन सहयोगी प्रयासों का अंग है जिसके पीछे नये मूल्यों की खोज और प्रतिष्ठा को लेकर चलने वाले संघर्ष का एक लम्बा सिलसिला है और जिसमें हर एक का अपना आत्मसंघर्ष भी शामिल है। पुस्तक की बहसें इसी संघर्ष का प्रतिफलन हैं। जिन्हें एक बने-बनाए स्पष्ट प्रतिमान से प्रयोजन है उन्हें ये विवाद शायद व्यर्थ के सिरदर्द लगें। लेकिन संघर्ष के बिना जब गो रक्त की गोदा भी मयस्सर नहीं होती तो कविता के मूल्य क्या मिलेंगे? मूल्यों को इसीलिए कमाया हुआ सत्य कहा जाता है कि हर एक को मूल्यों के लिए खुद कीमत चुकानी पड़ती है। मूल्य हस्तान्तरित नहीं किए जा सकते — अधिक-से-अधिक उनका पुनः प्रत्यय हो सकता है और पुनः प्रत्यय से अधिक यह पुस्तक अपेक्षा भी नहीं करती।

कविता के नये प्रतिमान नाम में दम्भ की कुछ गन्ध मिले तो मिले, स्वयं पुस्तक में किसी प्रतिमान के निर्माण का दम्भ नहीं है। लेखक का विश्वास है कि जिस तरह वैयाकरण भाषा के शब्द नहीं बनाता, उसी तरह आलोचक भी काव्य के मूल्यों का निर्माण नहीं करता। शब्दानुशासन के समान ही काव्यानुशासन भी वस्तुतः अनुशासन है, शासन नहीं। इस अनुशासन का

आधार है नये या ये सृजन में निहित मूल्यों का प्रत्यभिज्ञान या पहचान जिसे अभिनवगुप्त ने ज्ञात का भी विशेष रूप से अनुमेयानात्मक निरूपण कहा है। यहाँ यह जाना हुआ कहाँ तक पहचाना हुआ बन सका है इसका निर्णय विज्ञ पाठक स्वयं करेंगे।

इस अनुशासन की आवश्यकता न पड़ती यदि कविता को सीधे अनुभव करने में हर पाठक स्वतन्त्र और समर्थ होता। किन्तु विडम्बना यह है कि जो अपने को सामान्य पाठक कहता है वह भी अपने काव्यानुभव में अनजाने ही किसी न किसी काव्य सिद्धान्त से अनुशासित होता है। ये अनजाने काव्य सिद्धान्त पर्यवेक्षण और निर्णय में सब समय साधक ही नहीं होते ज्यादातर तो वे पाठक की दृष्टि को सीमित और निर्णय को पूर्वग्रह से दूषित करते प्रतीत होते हैं। विगत बीस वर्षों के काव्य सृजन के सहज ग्रहण का इतना हठ प्रतिरोध प्रमाण है। हिन्दी में सम्प्रति छद्म छायावादी पूर्वग्रह प्रबल हैं जो अभी तक अनजाँचे होने के कारण अनेक पाठकों को उनके अनजाने ही प्रभावित करते रहते हैं। इस पुस्तक में एक ओर उन पूर्वग्रहों के प्रति पाठक को आत्म सजग करने का एक प्रयास है तो दूसरी ओर अपने पूर्वग्रहों के प्रति भी पर्याप्त आत्म सजगता है जिन्हें केवल आरम्भिक प्रतिज्ञा (हाइपोथीसिस) के रूप में स्वीकार किया गया है।

यह तथ्य अनदेखा नहीं जा सकता कि कविता के नये प्रतिमान के केन्द्र में मुक्तिबोध है। मूल्यों के अन्वेषण की प्रक्रिया में कभी न कभी प्रायः सबके सामने आदिकाव्य का यह प्रश्न उपस्थित होता है कोन्वस्मिन् साम्प्रत लोके ? उत्तर में मुझे मुक्तिबोध ही क्यों दिखे इसका उत्तर यदि स्वयं यह पुस्तक नहीं देती तो अलग से कोई उत्तर देना अनावश्यक है। बस मुक्तिबोध की मृत्यु के समय इस सत्य का प्रत्यभिज्ञान बहुतों को हुआ जो इस बात का सूचक है कि पहचान के लिए मृत्युबोध से कम का आघात काफी नहीं। इस पुस्तक का आधार यह धारणा है कि नयी कविता में मुक्तिबोध की स्थिति वही है जो छायावाद में निराला की थी। निराला के समान ही मुक्तिबोध ने भी अपने युग के सामान्य काव्य मूल्यों को प्रतिफलित करने के साथ ही उनकी सीमा को चुनौती देकर उस सर्जनात्मक विशिष्टता को चरितार्थ किया जिससे समकालीन काव्य का सही मूल्यांकन सम्भव हो सका।

मुक्तिबोध की विशेषता यह है कि उन्होंने रचना के साथ ही आलोचना के भी मान रखे। रचना प्रक्रिया के विश्लेषण के साथ ही उन्होंने आलोचना-

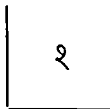
प्रक्रिया का भी प्रमाण प्रस्तुत किया। एक साहित्यिक की डायरी नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध 'कामायनी एक पुनर्विचार आदि इस आलोचना प्रक्रिया के ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। अपनी आलोचनात्मक क्षमता के द्वारा मुक्तिबोध ने प्रमाणित कर दिया कि कोई भी चीज तभी स्पष्ट होती है जब कम से-कम एक ईमानदार व्यक्ति मौजूद हो। मूल्यवान है एक भी ऐसे आलोचक का होना जो किसी भी चीज को तब तक अच्छा न कहे जब तक उस निर्णय के लिए वह अपना सब कुछ दांव पर लगाने को तैयार न हो।

कविता के नये प्रतिमान के द्वारा यदि और कुछ न ही बल्कि केवल यह बोध भी जाग्रत हो सका तो लेखक की दृष्टि में यह प्रयास सार्थक होगा।

दिल्ली

नामवर सिंह

६ अगस्त १९६८



१

# कविता क्या है ?

किसी काव्य कृति का कविता होने के साथ ही नया होना अभीष्ट है। वह 'नया' हो और कविता न हो यह स्थिति साहित्य में कभी स्वीकार्य नहीं हो सकती। फिर नयी कविता का विरोध आज नयेपन के आग्रह के कारण उतना नहीं हो रहा है जितना इस कारण कि जो बाह्यतः और साधारणतः कविता नहीं लगता उसे उसके अन्तर्गत कविता कहा जाता है। अतएव 'नया क्या है ?' इस प्रश्न के साथ ही यह प्रश्न भी जीवित प्रश्न है कि 'कविता क्या है ?' और यदि सत्य कहा जाय तो पहले की अपेक्षा अब दूसरा प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठा है। डा० जगदीश गुप्त का यह कथन सर्वथा समयोचित है क्योंकि कविता में अब नयी कविता के आगे की नयी प्रवृत्तियों का उदय हो चला है जिनके प्रवर्तक नयी कविता को प्रच्छन्न व्यतीत लेखन कहने लगे हैं। ऐसी स्थिति में केवल नवीनता के आधार पर नयी कविता को प्रतिष्ठित करना निश्चय ही कठिन होगा। इसलिए आज यदि नयी कविता के सन्दर्भ में 'कविता क्या है ?' प्रश्न फिर से उठाना आवश्यक प्रतीत हो रहा है तो इसे संगत ही कहा जायगा।

किन्तु इस प्रश्न की सार्थकता उत्तर पर निर्भर है। डा० जगदीश गुप्त के सामने यह स्पष्ट है कि 'नया क्या है' और 'कविता क्या है' — ये दोनों प्रश्न परस्पर-सम्बद्ध और एक ही सिक्के के दो पहलू हैं क्योंकि कविता में नवीनता की उत्पत्ति वस्तुतः सच्ची कविता सिरजने की आकांक्षा से ही होती है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने कहा है कि 'जो कथन सर्जनात्मकता (creativity) तथा संवेदनीयता (emotivity) से रहित हो उसे किसी भी स्तर पर कविता

नहीं कहा जा सकता। इस कथन से स्पष्ट है कि सृजनात्मकता नवीनता का पर्याय है और सवेदनीयता कविता का। किन्तु इस विवेचन के बाद जब डा० जगदीश गुप्त कविता की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं तो नाम बस सृजनात्मकता का तत्त्व गायब हो जाता है। उनकी परिभाषा इस प्रकार है

कविता सहज आन्तरिक अनुशासन से युक्त अनुभूतिजन्य सघन लयात्मक शब्दार्थ है जिसमें सह अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता निहित रहती है। (नयी कविता ५ ६ १९६ १)

ध्यान देने की बात है कि यह परिभाषा नयी कविता के सन्दर्भ में प्रस्तुत की गई है और परिभाषाकार नयी कविता के एक प्रवक्ता ही नहीं, बल्कि स्वयं नये कवि भी है। अपनी समझ में उन्होंने परम्परा प्राप्त परिभाषाओं को अपर्याप्त समझकर ही नये सिरे से कविता को परिभाषित करने का प्रयास किया है किन्तु इसमें ऐसी कौन सी नई बात है जो किसी पूर्ववर्ती परिभाषा में सुलभ नहीं है? क्या किसी छायावादी को इस परिभाषा से विरोध हो सकता है? यदि नयी कविता यही है तो यही कहा जायगा कि छायावाद के आगे इसने अपनी ओर से कुछ भी नया नहीं जोड़ा। लगता है प्राचीन चिंतकों के साथ अपनी बात को जोड़ने की धृष्टता से अभिभूत डा० जगदीश गुप्त अपनी काव्य परिभाषा में वह तत्त्व भूल गए जिसे नयी कविता ने हिंदी काव्य परम्परा में जोड़ा है। इसीलिए अनुभूति तो उन्हें याद रह गई लेकिन सृजनात्मकता भूल गए। दूसरे शब्दों में उनमें छायावाद तो अवशिष्ट रह गया लेकिन नयी कविता जड़ न जमा पाई। शायद परम्परा से जुड़ने की महत्त्वाकांक्षा की यही परिणति होती है और ऊपर ऊपर से नया भाव बोध ओढ़े रहने वाले जब कविता क्या है जैसा बुनियादी सवाल उठाते हैं तो अपने उत्तर में अनजाने ही पुरानी बात दोहराते पाए जाते हैं।

ऐसी ही असंगतियाँ ही लक्ष्मीकान्त वर्मा जैसे लोगों को यह कहने का अवसर देती हैं कि आज नयी कविता के आचार्यों और कवियों द्वारा बार बार एक क्रम जारी करने की कोशिश की जाती है—और वह यह है कि नयी कविता की अपेक्षा अच्छी कविता और नयी कविता के प्रतिमान की अपेक्षा कविता के प्रतिमान की बात उठाई जाए। पहली बात अर्थात् नयी कविता बनाम अच्छी कविता के प्रवक्ता शायद अपनी प्रतिष्ठा को उपाधि को परम्परा से सम्बद्ध करके अपने सम्पूर्ण प्रयोगशील जीवन को प्रतिष्ठा देना चाहते हैं। (नये प्रतिमान पुराने निकष पृ० २६६)

देखना यह चाहिए कि नये कवियों द्वारा परम्परा में प्रतिष्ठित होने की आकांक्षा पूरी हो सकी है या नहीं? आकस्मिक नहीं है कि जिस समय डा० जगदीश गुप्त ने कविता क्या है जैसा आधारभूत प्रश्न उठाना आवश्यक समझा

इसी समय डा० नगेन्द्र भी इस आग्रह के साथ मैदान में आ गए। नया क्या है और कविता क्या है—इन प्रश्नों के द्वन्द्व तथा द्वैत को एक बार समाप्त करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि कविता के संदर्भ में नई-पुरानी की जगह अच्छी-बुरी या इससे भी आगे कविता अकविता का भेद मुझे अधिक सार्थक प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि बिहारी और पंत या घनानन्द और गिरिजाकुमार की कविता के भेद की प्रतीति मुझे नहीं है—भेद तो स्पष्ट ही है कथ्य का भी और कथन की भंगिमा का भी किन्तु यह भेद भाव कवित्व गुण का निर्णय नहीं करता—यह स्वरूप-वर्णन में सहायक होता है मूल्यांकन में नहीं। अज्ञेय की नई रूप विवृतियां कहीं अधिक सटीक जान हैं—केवल इसी एक तथ्य के आधार पर वे रत्नाकर से अधिक समर्थ कवि नहीं बन जाते। प्रश्न है रूप की सूक्ष्म गहन अनुभूति और उसकी अधिकाधिक पूर्ण अभिव्यक्ति का। प्रकार के भेद को आत्मा का भेद मान लेने से ही—या रूपगत का ही सौन्दर्य मान लेने से आज का मूल्य-बोध इतना खण्डित और एकांगी तथा अपनी एकांगिता में इतना दुराग्रही हो गया है कि विकृति और प्रकृति का भेद करना उसके लिए कठिन हो रहा है।

(आलोचक की आस्था पृ० ११)

अपनी समझ में डा० नगेन्द्र ने एक द्वैत को एकदम नकार कर केवल कविता अकविता भेद एक प्रश्न को ही सार्थक माना किन्तु वे अपनी तर्क प्रक्रिया में इस द्वैत से बच नहीं पाए। यदि नये-पुराने का भेद निरर्थक है तो बिहारी और पंत या घनानन्द और गिरिजाकुमार में भेद करने की आवश्यकता ही क्या है ? यह भेद उन्हें स्वरूप वर्णन के लिए सहायक प्रतीत होता है कवित्व गुण का निर्णय करने के लिए नहीं। सवाल यह है कि स्वरूप वर्णन कवित्व-गुण का निर्णय करने के लिए सहायक है या नहीं ? यदि नहीं तो निर्णय के लिए स्वरूप वर्णन अनावश्यक है। किन्तु उस स्थिति में निर्णय की वस्तुता तथा युक्तता का प्रश्न उठ खड़ा होगा। क्या स्वरूप-वर्णन के बिना मूल्य निर्णय की कोई सार्थकता रह जाती है ? वर्णन के बिना निर्णय या तो फतवा है या फिर कोरा फतवा। यहीं नहीं एक असंगति दूसरी असंगति को जन्म देती है। आगे ज्यों ही डा० नगेन्द्र रूप विवृत्तियों की चर्चा और रूप की सूक्ष्म-गहन अनुभूति का द्वैत खड़ा करते हुए रत्नाकर को अज्ञेय से श्रेष्ठ कवि बतलाते प्रतीत होते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें अज्ञेय की रूप विवृत्तियां के अधिक सटीक होने का भी सटीक ज्ञान नहीं है और कदाचित् रत्नाकर के अनुभूतियों का बोध भी संदिग्ध ही है। क्या रूप की सूक्ष्म विवृति सूक्ष्म अनुभूति के बिना सम्भव है ? अज्ञेय की नई रूप विवृतियों का अधिक सटीक होना बिना नई अनुभूति के ही हुआ है अथवा वे नई रूप विवृतियाँ किसी पाठक

मे नई अनुभूति नहीं जगाती। यही द्वैत अनुभूति बनाम अभिव्यक्ति मे भी प्रकट है। और इन सबका आधार वह प्राचीन द्वैतवाद है जो आत्मा और शरीर (जिसे शरीर ने महकर डा नगेन्द्र प्रकार कहते हैं) के भेद पर खड़ा है। प्रोफेसर राइल ने जिसे मशीन मे बैठा भूत (गोस्ट इन मशीन) कहा है उससे इस आधुनिक युग मे भी यदि कोई बाधित हो तो उसके चिंतन मे ऐसी प्रकार की असंगतियाँ उत्पन्न होगी।

अपनी इस धारणा को सैद्धांतिक आधार देने के लिए इस प्रतिष्ठित दौर मे डा नगेन्द्र ने कविता क्या है शीर्षक स्वतंत्र निबंध भी लिखा। यह संयोग मात्र नहीं है कि डा नगेन्द्र को भी कविता की परिभाषा करने की आवश्यकता उसी समय महसूस हुई जब डा जगदीश गुप्त को कविता और कविता सम्बंधी विचार महत्त्वपूर्ण लगा। परिभाषा देते समय जगदीश जी ने कोई उदाहरण लेने का जोखिम नहीं उठाया लेकिन नगेन्द्र ने लक्ष्य के बिना लक्षण कैसे बताते। उन्होंने तुलसीदास की एक अर्द्धाली को लक्ष्य बनाया और इस तरह तुलसीदास के आधार पर अपनी कविता परिभाषा बनाकर उन्होंने पहले ही प्रकट कर दिया कि वह किस युग के लिए उपयोगी है। लक्ष्य सुरक्षित लक्षण प्रतिष्ठित—फिर भी नयी कविता वाले यदि उसमे कुछ इस्माल लगाए तो वे अतिरिक्त आग्रहवादी ही कहे जाएगे। प्रसंगात् केवल यह उल्लेखनीय है कि छायावाद के उदय के समय कविता क्या है शीर्षक एक निबंध आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा था जो अपने अंतिम रूप मे अनेक परिवर्तनों एवं संशोधनों का परिणाम है।

नई कविता को परम्परा से जोड़ने तथा परम्परा मे समेटने के इन प्रयासों मे आकस्मिक नहीं कि डा जगदीश गुप्त और डा नगेन्द्र दोनों ने कविता के एक ही मूल तत्त्व का सहारा लिया और वह तत्त्व है अनुभूति जिसको प्रचलित करने का श्रेय छायावाद को है। इस प्रकार डा जगदीश गुप्त परम्परा के नाम पर छायावाद से नयी कविता को जोड़ना चाहते हैं और डा नगेन्द्र उसे छायावाद मे समेटना चाहते हैं। फिर विवाद कैसा? इस खीचतान को देखकर यदि डा देवराज तटस्थ होकर यह कहते हैं तो क्या गलत कहते हैं कि नयी कविता और छायावाद के बीच जो अघोषित मन मे समझौता प्रयोगवाद के रूप मे उभरा था वह सबके सब रूप उलटकर आ पड़ा है।

(नये प्रतिमान पुराने निकष पृ २६८)

इससे स्पष्ट है कि छायावादी काव्य-संस्कार आज भी कितने प्रबल हैं। इन संस्कारों के रहते नयी कविता की स्वाकृति का कोई अर्थ नहीं। जब तक नयी कविता इस संस्कार को तोड़कर अपने लिए उसमे जगह नहीं बनाती अथवा स्वयं वह संस्कार ही स्वच्छंद अर्थों मे अपनी सीमा तोड़कर नयी कविता

को अन्तर्भुक्त करने का प्रयास नहीं करता तब तक नयी कविता बौद्धिक रूप से स्वीकृत होकर भी काव्य शास्त्र के स्तर पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक तथ्य मात्र है। प्रश्न जैसा कि डा० जगदीश गुप्त समझते हैं मह अनुभूति को नहीं क्योंकि सह अनुभूति अधिक-से अधिक सहिष्णुता को जन्म देती है और सहिष्णुता सह अस्तित्व को। देखा जाय तो साहित्य के इतिहास में इस प्रकार का सह अस्तित्व बिना भी नई प्रवृत्ति को अपने आप सुलभ हो जाता है उसके लिए किसी प्रकार के अनुनय विनय या प्रतिरोध की आवश्यकता नहीं होती। प्रश्न काव्य सत्ता का है जो अखण्ड होता है जो अन्तय के गर्भ में संस्कृति के निर्माण और विकसन का पर्याय है।

कठिनाई तब होती है जब नयी कविता के कुछ तत्वों को समेटते हुए अपने परम्परा प्राप्त काव्य-संस्कार तथा उस पर निर्मित प्रतिमान को विकसित करने का दावा किया जाता है। ऐसा दावे का एक उदाहरण है डा० नगेन्द्र का रस सिद्धान्त जिसे नयी कविता के सन्दर्भ में पुनः प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने पूरक रूप में उपर काव्य बिम्ब नाम की पुस्तक भी लिख दी। यह रस सिद्धान्त कितना विकसित है इसका पता कुछ तो इस कथन से हो चल जाता है अमरीका और इंग्लैंड में नये कवियों ने जिस प्रकार स्वच्छन्दतावाद का उग्र विरोध किया है उसी प्रकार भारतीय भाषाओं में भी (हिन्दी मराठी बंगला आदि में) स्वच्छन्दतावाद के साथ साथ उसके समानधर्मा रसवाद का भी योजनाबद्ध विरोध किया जा रहा है। (रस सिद्धान्त, पृ० २४५) स्पष्ट है कि यह विकसित रसवाद स्वच्छन्दतावाद का ही समानधर्मा है। इसलिए जब भी डा० नगेन्द्र शाश्वत काव्य तत्व के रूप में अनुभूति की चर्चा करते हैं तो उनके उपवचन में निहित छायावादी उच्छवास सतह पर आ जाता है। उदाहरण के लिए ' हृदय का उच्छवास यदि रस या रस का निकटवर्ती अनुभव है तो वाणी का उच्छवास वक्रता या अलंकार का ही समानार्थक शब्द समूह है। (आलोचक की आस्था पृ १२) और फिर भाव का रूप उच्छवासमय होता है तब उसमें गर्भित होकर शब्द में गति-लय अनायास ही व्याप्त हो जाती है। (वही पृ० १५) इस उच्छवास के बाद भी यदि डा० नगेन्द्र के रसवाद के छायावादी होने में सन्देह हो तो अनायास के सहारे वर्ड्सवर्थ के spontaneous overflow की स्मरण कर लेना काफी होगा।

बस यह उच्छवास अपनी प्रबलता के कारण नयी कविता के सभी भाव बोधों और वस्तु बिम्बों को अपने चक्र में समेटने का दावा कर सकता है किंतु इस प्रयास से सम्भावना का स्वर इससे अधिक न होगा समसामयिक काव्य में एक ओर मानव करुणा और दूसरी ओर सवेदना सह अनुभूति तथा भाव-बोध स्थायी संचारी के ही विकास रूप हैं। लघुमानव के स्थान पर लघु

मानव आलम्बन बना और रस चक्र में हुआ तथा मयूरों के स्थान पर कौए और मुर्गे तथा मलयगिरि के स्थान पर घासलेटी गड्डे फसने लगे। (आलोचक की आस्था पृ० ८) इस उक्ति के बाद भी यदि डा० नगेन्द्र यह कहें कि मत रस के स्वरूप विकास के साथ साथ रसात्मक बोध की व्याख्या नहीं बदली— यह धारणा और तर्क दुराग्रह के ही द्योतक हैं। (वही) तो कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि दुराग्रह किसका है। यदि नये आलम्बनों के नाम पर कौए मुर्गे और गड्डे फसाना ही रस चक्र का विकास है तो हरिऔध का रस-कलश रस सागर है।

रस सम्प्रदाय की इस दृष्टि में यदि समस्त नयी कविता में सबसे रोमाण्टिक समझे जाने वाले कवि गिरिजाकुमार माथुर ही नयी कविता के प्रतिनिधि कवि प्रतीत हों तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यही नहीं बिम्ब की बिम्ब योजना में भावना और कल्पना का अपूर्व मणि काचन योग प्रस्तुत करने वाली ये पंक्तियाँ भी उस रस दृष्टि का विकास सूचित करती हैं —

मन का मृग भाग रहा
सुधि की अहेरिन यह
फूलों के बान लिए फिरती है।

इस प्रकार यह विकसित रस दृष्टि जिस गति से गिरिजाकुमार माथुर के सुधियों के चन्दन वन से होकर श्यामसुन्दर घोष की सुधि की अहेरिन का अनुगमन कर रही है नीरज का सुधियों का कारवाँ थोड़ी ही दूर रह जाता है। कौन कहेगा कि ये सुधियाँ कालिदास की तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्व भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि नहीं हैं?

इसीलिए इस रस विकास से नयी कविता के कवि गिरिजाकुमार माथुर भी पूरी तरह आश्वस्त नहीं हो सके क्योंकि वे केवल सुधियों के चन्दन वन के ही कवि नहीं हैं और न रहना ही चाहते हैं। यहाँ तक कि वे डा० नगेन्द्र के रस सिद्धान्त को रसवाद की संज्ञा देने की अपेक्षा नव भावाभिव्यंजनावाद कहना अधिक उचित समझते हैं। (काव्य बिम्ब रस दृष्टि और आधुनिक संवेदना साप्ताहिक हिन्दुस्तान २७ अगस्त १९६७)। अपेक्षित व्याख्या के बिना इस नव भावाभिव्यंजनावाद संज्ञा को रस सिद्धान्त के लिए जैसा भी किन्तु समझा जाय किन्तु गिरिजाकुमार माथुर के प्रयोग के विवेचन से स्पष्ट है कि यह नव भावाभिव्यंजनावाद नयी कविता की समग्र व्याख्या करने में असमर्थ है क्योंकि इस रस दृष्टि के द्वारा नयी कविता के बहुत बिम्बों को समझ पाना असम्भव है। गिरिजाकुमार माथुर के विवेचन से स्पष्ट है कि बिम्ब को साध्य का माध्यम मानने वाले डा० नगेन्द्र नयी कविता के बिम्बों का स्वरूप नहीं समझते क्योंकि रचनात्मक अनुभूति की समस्त प्रक्रिया ही बिम्बमयी

होता है। इस प्रकार बिम्ब कलात्मक अनुभूति का प्रमाण है केवल प्रेषण का माध्यम नहीं। इस प्रकार डा० नगेन्द्र का विश्वास है कि रसवाद स्वयं उनके प्रिय कवि द्वारा भी अमान्य सिद्ध होता है जिसका अर्थ है तथ्य द्वारा तथ्य का खण्डन। कहना न होगा कि इसका मूल कारण वही द्वैत भाव है।

जो केवल अपनी अनुभूति क्षमता के मिथ्याभिमान के बल पर नयी कविता को समझ लेने तथा समझकर मूल्य निर्णय का दावा करते हैं व्यवहार में उनकी अनुभूति की सीमा प्रकट होने के साथ ही यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि नयी समीक्षा में रसवाद के साथ सामान्य अनुभूतियों का सहारा लेना असम्भव है। महाभारत के बाद अर्जुन का गाण्डीव जिस तरह दस्युओं के सम्मुख व्यर्थ हो गया था उसी प्रकार नयी कविता के समक्ष पुरानी अनुभूतियों से निर्मित सहृदयता की विफलता निश्चित है। सैद्धान्तिक स्तर पर इस सहृदयता को चाहे जितने नये शब्दों एवं युक्तियों से सुसज्जित किया जाय किन्तु एक छोटी-सी नयी कविता भी सिद्धान्त के बड़े-से-बड़े गुब्बारे के लिए आलपिन हो जाती है। उदाहरण के लिए रस सिद्धान्त में अज्ञेय की सोनमछली कविता का निम्नलिखित विवेचन —

हम निहारते रूप
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली।
रूप-तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।

अज्ञेय की यह कविता नयी कविता है और सुन्दर भी। इसके आकर्षण का रहस्य क्या है? सुन्दर बिम्ब? हाँ इन पंक्तियों द्वारा प्रमाता की कल्पना में उद्बुद्ध बिम्ब निश्चय ही अत्यन्त आकर्षक और सजीव है। काँच के पीछे अपनी प्राण रक्षा के लिए जल में थिरकती हुई सोन-मछली का चित्र एकदम आँखों के सामने नाच उठता है—चमकती हुई मछली की तरंगित आकृति मानो जिजीविषा शब्द के कम्पित उच्चारण के साथ साकार मूर्त हो जाती है। इतने कम शब्दों में ऐसा सजीव चित्र प्रस्तुत कर देना निश्चय ही सधे हुए कलाकार का काम है। परन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या यह शब्द चित्र ही इस कविता की अन्तिम सिद्धि है? क्या प्रस्तुत शब्द चित्र को रससिक्त करने वाली संवेदना जो केवल मानव चेतना को ही वरदान रूप में प्राप्त है इसकी चरम सिद्धि नहीं है? बिम्ब निश्चय ही कला की सिद्धि है पर इस बिम्ब को जीवन्त करने वाला तत्त्व तो मानव चेतना का स्पर्श ही है और उसी का नाम रस है।

(रस सिद्धान्त, पृ० ५६-५७)

एक प्रमाता की इस रस मापक व्याख्या के बाद इस रचना पर स्वयं रचनाकार की निम्नलिखित टिप्पणी द्रष्टव्य है

जीवन स्वच्छ और आकार का एक रूपान और विस्मय भरा पुंज। हम चाहे तो उस रूप से ही उनको देख सकते हैं पर रूप का यह आकर्षण भी वास्तव में जीवन के प्रति हमारे आकर्षण का ही प्रतिबिम्ब है। जीवन को साथे न देखकर हम एक काँच में से देखते हैं तो हम उन रूपों में जा अटके जाते है जिनके द्वारा जीवन अभिव्यक्ति पाता है। काँच की टकी में पानी में सोन मछली पर एक छोटी सी कविता में यही कहा गया है।

(आत्मनेपद पृ ४५)

अज्ञेय की इस टिप्पणी का शीर्षक है प्रतीक और सच्चा वर्णन जबकि आलोचक की दृष्टि में पहले बिम्ब उभरता है फिर आता है उस रसमिश्रित उत्पन्न वाला संवेदना। इस प्रकार यह रूपाकर्षण जीवनाकर्षण का प्रतिबिम्ब नहीं बल्कि ऐसा बिम्ब है जिसे आगे चलकर रस सिक्त करता है। विवेचन से बिम्ब और अनुभूति का द्वैत ही नहीं बल्कि उनका साधन साध्य सम्बन्ध भी स्पष्ट है। इस स्थिति में प्रमाता के सम्मुख कथ्य का स्पष्ट न होना स्वाभाविक ही है जिसे छिपाने के लिए गूढ़ रहस्यदर्शी के समान इस अस्पष्ट संवेदन का नाम लिया गया है जो मानव चेतना को ही वरदान रूप में प्राप्त है। गोया जिजीविषा उस सोन मछली में नहीं है। भाषा बोध की स्थिति यह है कि जीवनी शक्ति मछली थिरकती हुई दिखाई पड़ती है और नये बोध का अतिरिक्त उत्साह जिजीविषा शब्द में मछली की तरंगायित आकृति के अनुरूप वर्तुलित उच्चारण तक सुन लेता है। क्या यह असंगति रूप और भाव को अलग अलग करके देखने वाली द्वैत दृष्टि का परिणाम नहीं? अनजाने ही यह कविता तथा कवि की टिप्पणी उस प्रमाता की काव्य दृष्टि की सीमा पर ऐसी सटीक टिप्पणी है जो अपने सिद्धान्त के बीच में फँसकर रह जाती है। इस सिद्धान्त के दायरे में क्या नयी कविता का जीवन भी सोन मछली की मांति न होगा?

स्पष्ट है कि नयी कविता के सन्दर्भ में कविता के अन्य तत्त्व के रूप में केवल अनुभूति का नाम लेना ही काफी नहीं है—नाकाफी ही नहीं बल्कि भ्रामक है। अज्ञेय का प्रसाद के अत्यन्त निकट मानते हैं भी [illegible] विजयदेव नारायण साही ने ऐसा कविया के दो नाम उद्धृत करके स्पष्ट कर दिया है कि अनुभूति शब्द के समान होने पर भी उसका रूप भिन्न हो गया और उसके साथ कविता का मूल धर्म क्या है इसकी परिभाषा भी। अज्ञेय भी प्रसाद की भाँति अनुभूति को तथ्य और सत्य को जानने वाली मानते हैं तथापि यह भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा नहीं है—रूप के भाव ग्रहण की

चेष्टा है, दूसरे में तथ्य का सहसा अर्थ में आलोकित हो जाना है। जाने हुए को पहचाना हुआ न जाना है। तात्पर्य यह कि छायावादी काव्य रचना की प्रक्रिया जहाँ भीतर से बाहर की ओर है, वहाँ नयी कविता की रचना प्रक्रिया बाहर से भीतर की ओर है। एक में रूप पर भाव का आरोपण है तो दूसरी में रूप का भाव में रूपान्तरण है। ये विपरीत प्रक्रियाएं अनुभूति और विचार के सम्बन्ध में भी दृष्टिगोचर होती हैं। जैसा कि साही ने आगे कहा है, इस प्रकार कामायनी में जो अनुभूति दर्शन में परिवर्तित हो जाती है उसे अज्ञेय फिर दर्शन से अनुभूति में परिवर्तित करते हैं। कविता-सम्बन्धी हमारी धारणाओं में इससे गहन परिवर्तन हो जाता है—विशेषत: अनुभूति की सार्वजनीनता को लेकर। यह सार्वजनीनता अपनी अनुभूति के प्रति कृतिकार की तटस्थता अथवा निर्वैयक्तिकता से उत्पन्न होती है—इसलिए नहीं कि हमारे बीच के सामान्य सत्य या आस्थाएं चिरन्तन रूप से समान हैं बल्कि इसलिए कि जिस चिरन्तन तत्त्व के दबाव में हम रह रहे हैं वह तत्त्व समान है। कवि और पाठक के बीच की जोड़ने वाली कड़ी आस्था नहीं यथार्थ है। स्पष्ट है कि प्रसाद और अज्ञेय का यह अन्तर छायावाद और नयी कविता का अन्तर है और पूर्वापर क्रम से परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी ये दो भिन्न काव्य सिद्धान्त हैं।

यही कारण है कि नयी कविता छायावाद के समान ही अनुभूति पर बल देते हुए भी भावों की सार्वजनीनता के प्रति उतना आश्वस्त नहीं है। इसीलिए नये कवि अनुभूति से अधिक अनुभूतियों के परिवर्तित सन्दर्भ पर विशेष बल देते हैं। लेकिन उनका बल रागात्मकता से अधिक रागात्मक सम्बन्धों पर है। इस धारणा की पुष्टि दूसरा सप्तक की भूमिका में अज्ञेय के इस कथन से भी होती है : यह कहा जा सकता है कि हमारे मूल राग विराग नहीं बदले—प्रेम अब भी प्रेम है और घृणा अब भी घृणा, यह साधारणतया स्वीकार किया जा सकता है। पर यह भी ध्यान में रखना होगा कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदल गई हैं और कवि का क्षेत्र रागात्मक सम्बन्धों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि कर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है। जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है—वैसे वैसे हमारे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं—और अगर नहीं बदलती तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है। कहना न होगा कि जो आलोचक इस परिवर्तन को नहीं समझ पा रहे हैं वे उस वास्तविकता से टूट गए हैं जो आज की वास्तविकता है। उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने में असमर्थ वे उसे केवल बाह्य वास्तविकता मानते हैं तब कि

हम उनसे वैसा संबंध स्थापित करके उसी भाँति मूल्य बनाते हैं। और इस विषय में साधारणीकरण की नयी समस्याएँ आरम्भ होती हैं।

स्पष्ट है कि छायावादी संस्कारों में पले जो आलोचक अनुभूति को स्थायी भाव का पर्याय समझते हैं वे बदली हुई परिस्थिति में भी कवि से केवल उन स्थायी भावों के अनुरूप अधिक से अधिक नये वस्तुविधान और रूपविधान की ही अपेक्षा रखते हैं। उनका ख्याल है कि नये वस्तुविधान के बावजूद स्थायी भावों की सार्वजनीनता के कारण काव्यगत भावों के साधारणीकरण में कोई कठिनाई न होगी। अपनी इस धारणा के अनुसार ही वे नयी कविता के नये बिम्बों में चिरपरिचित स्थायीभाव ढूँढ़ने का प्रयास भी करते हैं और जिन खोजा तिन पाइयाँ के ढंग पर प्रायः वे अपना अभीष्ट पा भी जाते हैं क्योंकि वहाँ सच पूछिए तो खोजने की समस्या ही नहीं है। किन्तु कभी-कभी नये बिम्बों में चिरपरिचित स्थायी भाव नहीं भी मिलते तब वे अपने काव्य सिद्धान्त को दोष देने की जगह नयी कविता को ही दोषी मान बैठते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि कवि कर्म शास्त्र निरूपित कुछ गिने चुने स्थायी या संचारी भावों को उदाहृत करना नहीं बल्कि नयी वास्तविकता से उत्पन्न होने वाली वृत्तियों को उजागर करना है। इसी दृष्टि से अनन्य ने रागात्मक सम्बन्धों के क्षेत्र को कवि कर्म का क्षेत्र कहा है। नये कवि की समस्या इस रूप को ही भाव में रूपान्तरित करने की है प्राप्त भाव को रूप देने की नहीं।

छायावाद के विपरीत नयी कविता में जिस प्रकार रूप भाव ग्रहण करता है तथ्य सत्य हो जाता है और अन्ततः अनुभूति निर्वैयक्तिक हो जाती है उसमें स्वयं कविता की संरचना में भी गहरा परिवर्तन आ जाता है। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए श्री विजयदेव नारायण साही ने कहा है कि छायावादी कलाकृति मूलतः एक विस्फोट करता हुआ बनाता है—जैसे कोई अन्य फूटकर चारों ओर असमान वितान होता हुआ बिखर रहा हो। तीसरे दशक की कलाकृति इस विस्फोट की तरह नहीं बल्कि एक लहर की तरह निर्मित करता है—जिस प्रयास में महादेवी से लेकर बच्चन तक के गीत निर्मित होते हैं। नयी कविता उस तरंग के रूप को एक स्ट्रक्चर में बदल देती है ? जैसे हीरे का क्रिस्टल हो। (लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस)।

औसत नयी कविता क्रिस्टल या स्फटिक की सघन संरचना के समान है इसका प्रमाण यह है कि आलोचना में उद्धरण की सुविधा के लिए उसमें काट छाँट कर चुनना कविता के साथ अन्याय हो जाना है और जब भी ऐसा किया जाता है तो कविता की अन्विति की कीमत पर—समग्र अर्थ की कीमत पर। इसलिए जब इन्होंने तारसप्तक के तीसरे संस्करण में अपना वक्तव्य के पुनश्च में अवधान की बात कही तो ये न कवि आलोचन की चरम उपलब्धि घोषित

करत हैं तो उनकी दृष्टि म ग्न की अथवत्ता म स्फटिक की सरचना क समान ही ध्वनि लय छन्द आदि के साथ ही सारे सामाजिक सन्दभ युग सम्पृक्ति और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व की भी पर्तें घनीभूत हैं। इसीलिए नया कविता अभिव्यक्ति नहीं बल्कि निर्मिति मानी जाती है। किंतु डा० नगेन्द्र जब कहते हैं कि निर्मिति का सिद्धान्त अभिव्यक्ति स मूलत भिन्न नहीं है भेद केवल बलावल का है। अभिव्यक्ति म वस्तु-तत्त्व माध्यम है और आत्म तत्त्व प्रधान जब कि निर्मिति म आत्म-तत्त्व प्रच्छन्न रहता है और वस्तु तत्त्व उभरकर सामन आ जाता है। (आलोचक की आस्था, पृ० ३) तो व अपनी समझ का बुनियादी भ्रम प्रकट करत हैं। काव्य क अभिव्यक्ति सिद्धान्त और निर्मिति सिद्धान्त मे भेद केवल बलाबल का नही है। बलाबल का भेद वहा होगा जहाँ का य रचना साध्य साधन क द्वैतवादी सिद्धान्त पर आधारित हो। अभिव्यक्ति सिद्धान्त म इस द्वैत की सम्भावना हो सकती है किन्तु निर्मिति सिद्धान्त शुरु से ही इस द्वैत का निषेध करता है। जब काव्य कृति को निर्मिति कहा जाता है तो उसका स्पष्ट अर्थ है कि उसम वस्तु तत्त्व अथवा आत्म-तत्त्व म से कोई भी माध्यम मात्र नही है। स्फटिक की सरचना पर दृष्टि डालन म यह तथ्य अच्छी तरह स्पष्ट हो सकता है। स्फटिक सरचना सम्बन्धी विज्ञान क नवानतम शोधा का तो यहाँ तक कहना है कि स्फटिक म सब कुछ सरचना हा है तत्त्व जसी कोई चीज नही क्योंकि चरम विश्लेषण म अन्तत कुछ भी अलग स प्राप्त नही होता। इसलिए किसी काव्य कृति म अनायास ही रूप वस्तु भाव और उद्देश्य को एक क बाद एक पा जान क अभ्यस्त आलोचकों को यदि नयी कविता लोह का चना मालूम हो अथवा केवल कुछ नय बिम्बों का पुज प्रतीत हो तो आश्चर्य नही होना चाहिए।

सम्भवत इसी स्थिति को देखते हुए श्री विजयदेव नारायण साही न शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट के विश्लेषण क प्रसग म कहा है कि नयी कविता की बहसों म यह मान्यता अ नभक्त रही है कि न सिर्फ कविता का ऊपरी कलेवर बदला है या नय प्रतीकों या बिम्बों या श दावली की तलाश हुई है बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट म ही परिवर्तन आ गया है। लेकिन बहस म इस पर बल कम दिया गया है। इस कथन स स्पष्ट है कि नयी कविता की इस बनावट या सरचना को ध्यान म रख बिना आज कविता की कोई भी परिभाषा अधूरी रहेगी। इस सरचना का उपेक्षा वही कर सकता है जो इसक अभिमान को नयी कविता क स्वरूप वर्णन म सहायक मात्र मानता है। किन्तु उदाहरणों स स्पष्ट हो चुका है कि एस आलोचक नयी कविता क स्वरूप वर्णन म भी अक्षम हैं। वे लाख कहें कि उन्हें पत और गिरिजाकुमार माथुर अथवा रत्नाकर और अज्ञेय की कविता क भेद की प्रतीति-

है किन्तु व्यावहारिक समीक्षा के स्तर पर उनकी प्रतीति का क्रम छूट जाता है। अपनी इस अक्षमता के बावजूद वे चाहें तो अपनी तुष्टि के लिए काव्य की शाश्वत परिभाषाएँ गढ़ते धुनते रह सकते हैं और यथारुचि उनके आधार पर नयी कविता पर मूल्य निर्णय भी दे सकते हैं किन्तु इस प्रकार का सारा प्रयास अन्ततः निरर्थक होगा। इसलिए यदि नयी कविता को कविता के रूप में जाँचना परखना है तो काव्यानुभूति की इस बदली हुई बनावट का ध्यान में रखकर ही कविता की परिभाषा करनी पड़ेगी। नयी कविता को जाँचने के लिए कविता का प्रश्न उठाना गलत नहीं है गलत है कविता सम्बन्धी बुनियादी सवाल की ओट में किसी पुराने सिद्धान्त का सहारा लेना। और निश्चय ही ऐसी चुनौती का जवाब श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की तरह नयी कविता के प्रतिमान बनाकर नहीं दिया जा सकता बल्कि जैसा कि साही ने कहा है समूची नयी कविता को ठीक ठीक देखने के लिए नयी कविता के प्रतिमान की जरूरत नहीं है बल्कि कविता के नये प्रतिमान की जरूरत है।

•

२

# कविता के नये प्रतिमान

नयी कविता पत्रिका ने अपने ८वें अंक (१९६७) में सम्भवतः श्री विजयदेव नारायण साही ने सर्वप्रथम कविता के नये प्रतिमान का प्रश्न उठाया था। परिचर्चा में भाग लेते हुए श्री नामवर सिंह कहते हैं कि इस प्रश्न को अब नये ढंग से उठाया जा रहा है। नयी कविता के प्रतिमानों के बजाय कविता के नये प्रतिमानों पर विचार करना अधिक अर्थपूर्ण है। यह बात दोहराई जाती है कि जब जब कविता बदलती है उसके प्रतिमान भी बदलते हैं पर यह नहीं कि नये प्रतिमान केवल नयी बनी हुई कविता के लिए ही होते हैं। वस्तुतः वे कविता के समग्र विषय के लिए होते हैं उनके आधार पर नया युग अपनी कविता का तो मूल्यांकन करता ही है पूर्ववर्ती कविता का भी फिर से मूल्यांकन करता है और इस तरह उस नये सन्दर्भ में अंगीकृत करता है। इसी क्रम में वस्तुस्थिति पर प्रकाश डालते हुए आगे यह कहा गया कि समीक्षकों ने नये प्रतिमानों की खोज नहीं की फिर पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न ही कैसे उठता? कथन और शासन की बात तो यह है कि उन्होंने उल्टा इन्हें अपनाया और पुराने प्रतिमानों के आधार पर नयी कविता को जांचना चाहा। इससे क्या हो सकता था। उन्हें नयी कविता खोटी मालूम पड़ी क्योंकि उसमें अस्पष्ट शिल्प का संस्कार नहीं मिला था इसकी मधुमती भूमिका न मिली। समीक्षकों ने पहले अपने प्रतिमानों को स्वयं तोड़ना तो बात रास्ते पर आ सकती थी। उन्होंने यह नहीं किया। जब देखा कि नयी कविता जम गई है तो वह पुराने प्रतिमानों में कुछ कतरब्योंत करके उनके आधार पर उसकी प्रशंसा करने लगे।

नयी कविता की आलोचना में प्रायः पुराने प्रतिमान क्या इस्तेमाल किये गए? यदि इसकी जाँच की जाय तो साफ मालूम होगा कि जिन्हें हम पुराने प्रतिमान कहते हैं वे वस्तुतः पुराने संस्कार हैं। इसलिए नये प्रतिमान की चर्चा करने से पहले इन संस्कारों का विश्लेषण करना बहुत जरूरी है। जब तक इन संस्कारों को न तोड़ा जाएगा, नये प्रतिमानों के प्रस्तुत होने पर भी वास्तविक मूल्यांकन में वे परोक्ष रूप से दखल देते रहेंगे। श्री कुँवरनारायण ने 'हिन्दी आलोचना और रचनात्मक साहित्य' (क ख ग—६ अक्टूबर १९६४) शीर्षक निबन्ध में इस संकट की ओर संकेत करते हुए सही कहा था कि आज भी हिन्दी समीक्षा के सिद्धान्त पक्ष और व्यवहार पक्ष में यह विषमता बनी हुई है। अधिकांश समीक्षा के पीछे बिलकुल व्यक्तिगत रुचि और काव्याभ्यास रहता है—समीक्षा के सुनिश्चित मानदंड या तो होते ही नहीं या अत्यन्त जड़ होते हैं। अपनी इस धारणा में श्री कुँवरनारायण ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की इस मान्यता का उद्धरण दिया है : गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होना चाहिए। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य-पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए। इस उद्धरण के बाद श्री कुँवरनारायण कहते हैं कि 'द्विवेदीजी का उद्धरण नयी कविता की एक आधारभूत मान्यता को पुष्ट करता है लेकिन क्या द्विवेदीजी का काव्य संस्कार आज की कविता को स्वीकार कर सका होता?' छायावादी कविता के बारे में द्विवेदीजी की राय को देखते हुए ही श्री कुँवरनारायण ने कदाचित् यह आशंका व्यक्त की है, इसलिए उसे निराधार कहना कठिन होगा। द्विवेदीजी के जिस कथन में श्री कुँवरनारायण ने नयी कविता की एक आधारभूत मान्यता की पुष्टि देखी है उसके सही संदर्भ की ओर यदि उनका ध्यान जाता तो शायद वे ऐसी बात न कहते। किन्तु यह तथ्य है कि कविता के वास्तविक मूल्यांकन में बौद्धिक स्तर पर स्वीकृत सिद्धान्तों की अपेक्षा बद्धमूल संस्कार अधिक निर्णायक भूमिका अदा करते हैं।

इस दृष्टि से आज नये-से-नये प्रतिमान के लिए सबसे बड़ी चुनौती छायावादी संस्कार है। उदाहरण के लिए गद्य और कविता का अंतर समझाने के लिए आज भी व्यापक रूप से यह कहा जाता है कि 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' गद्य है और 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' काव्य है। इस मान्यता को शास्त्रीय मर्यादा प्रदान करने के लिए इसके साथ बाणभट्ट का नाम जोड़कर एक अच्छी-खासी किंवदन्ती भी गढ़ दी गई है। यह अनुश्रुति कितनी पुरानी है, कहना कठिन है। किन्तु इसका विशेष प्रचलन प्रायः उस समय हुआ जब कविता में छायावाद का बोलबाला था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक ने 'कविता क्या

है निबंध में कविता की भाषागत विशेषता का निरूपण करते हुए इस उक्ति को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। उक्ति भले ही संस्कृत की हो किन्तु इसमें कविता की एक रूमानी धारणा निहित है इसकी ओर बहुत का ध्यान नहीं जाता।

इस ओर सम्भवतः सबसे पहले कवि श्री सियारामशरण गुप्त की दृष्टि गई—१९२८ में जब छायावाद का युगांत घोषित हो चुका था और प्रगतिशील चेतना यथार्थवाद के रूप में उदित हो रही थी। श्री सियारामशरण गुप्त ने 'झूठ सच' नामक पुस्तक में इस विषय पर 'शुष्को वृक्ष' शीर्षक निबंध लिखा जिसमें उन्होंने साहस के साथ यह प्रश्न उठाया कि 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' कविता क्यों नहीं है? उनके शब्दों में 'रस कठोर में भी होता है। सब कोमल पदार्थ सुस्वादु नहीं होते। इसी से शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे में जो बात है वह नीरस तरुरिह में नहीं। इसमें विलास की गंध है। इस वृक्ष के लिए विलसति पुरतः कहना उसका उपहास है।' अपनी इस धारणा की व्याख्या करते हुए आगे वे कहते हैं 'उपर्युक्त बन्धु ने उस सूखे वृक्ष को देखा था उसकी शुष्कता का अनुभव किया था। कल्पना लोक में वह भटका न था इसी से इतने थोड़े शब्दों में उस वृक्ष का ऐसा निखरा चित्र उससे बन पड़ा है। शुष्को वृक्ष कहते ही आँखों के आगे नीचे से ऊपर उठता हुआ एक ऐसा वृक्ष दिखाई देने लगता है जिसमें अब कोई गाँठ सी पड़ने वाली हो। कण्ठ को यहाँ जो भार संभालना पड़ती है वह इस वृक्ष की ही है। इसके बाद 'तिष्ठति' तक फिर उसके तने को ऊपर उठने का मौका मिलता है। वहाँ से तु के द्वित्व की ठोकर खाकर टकराता होता हुआ वह फिर ऊपर की ओर बढ़ जाता है। वाक्य का उच्चारण करते करते मानस पट पर अलक्षित रूप में सूखे वृक्ष का एक ऐसा चित्र अंकित होता जाता है जिसे एक बार अन्तर्दृष्टि से देख लेने पर भुलाया नहीं जा सकता। भाषा इसकी ऊबड़ खाबड़ है। वह उचित ही है। अर्थ न समझने वाले को भी वह शुष्कता का बोध करा देगी। उसके कारण वर्णित चित्र ऐसा हो गया है कि नीचे लिखा हुआ गद्य पढ़ना आवश्यक नहीं रहता चित्र का आशय अपने आप सुस्पष्ट हो जाता है।'

इस विषय में आलोचकों के मतिभ्रम पर टिप्पणी करते हुए श्री सियारामशरण गुप्त कहते हैं कि 'आश्चर्य का विषय है कि जो बात इन लोगों (किसानों) की समझ में भी आती है वह हमारे समालोचकों की समझ में नहीं आई। वे वास्तव में कठोर की उपेक्षा करके कोमलता के उपवन में विचरण करने चले गए हैं। इस शुष्को वृक्ष में भी जो आनन्द है उसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गई।

बद्धमूल छायावादी संस्कार का यह एक उदाहरण है जो श्री सियाराम शरण गुप्त के उक्त खंडन के बाद भी एकदम समाप्त नहीं हुआ है। कविता की विशिष्टता बतलाते समय आज भी उस गद्य के विरुद्ध रखा जाता है और प्रायः इसी उदाहरण की सहायता ली जाती है। जो इस स्थूल उदाहरण को अपनी सूक्ष्म बुद्धि के लिए अपमानजनक समझते हैं वे भी किसी न किसी रूप में ऐसी ही उक्ति का सहारा लेते हैं। गद्य को कविता के विरुद्ध रखने का अर्थ ही है गद्य को यथार्थवाद का प्रतीक मानना और कविता को रोमांटिकता का।

छायावादी संस्कार की दृढ़ता का दूसरा उदाहरण ज्यादा गम्भीर है। इसका सम्बन्ध आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। सामान्यतः आचार्य शुक्ल छायावाद के विरोधी समझे जाते हैं किन्तु तथ्य है कि वे स्वच्छन्दतावाद के विरोधी न थे। काव्य में रहस्यवाद उन्हें अमान्य था फिर भी वे प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक रहस्यभावना के कायल थे। कविता में अनुभूति को सर्वोपरि वे भी मानते थे। काव्य भाषा की दृष्टि से छायावादी पदावली हो न हो बल्कि पूरी भाषा व्यंजना उन्हें प्रिय थी। इन मान्यताओं के अनुसार उन्होंने हिन्दी कविता की समूची परम्परा का मूल्यांकन किया जो आगे चलकर हिन्दी साहित्य का इतिहास के रूप में हिन्दी के विद्यार्थियों का संस्कार बन गया। जो लोग आचार्य शुक्ल के स्पष्ट मानदण्ड से पूरी तरह अभिन्न नहीं हैं वे भी उस मानदण्ड के व्यावहारिक मूल्यांकन के प्रभाव में हैं जिसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि आज तक हिन्दी कविता की परम्परा का पुनर्मूल्यांकन नहीं किया गया। आचार्य शुक्ल के मूल्यांकन में छायावादी आग्रह किस सीमा तक अन्तर्निहित है इसे छायावाद से इतर कविता के मूल्यांकन में साफ देखा जा सकता है। जो घनानन्द प्रसाद के प्रिय कवि थे उन्हें शुक्लजी ने भी साक्षात रसमूर्ति कहा और लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग वैचित्र्य के कारण उन्हें छायावादी कवियों से संबद्ध कर दिया। इसके विपरीत केशवदास के बारे में उन्होंने स्पष्ट निर्णय दिया कि 'केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह *सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए।'* इस सहृदयता और भावुकता का वास्तविक अर्थ जानने के लिए केशव के बारे में डा० स० ही० वात्स्यायन का 'केशव की कविताई' शीर्षक मजेदार लेख द्रष्टव्य है जिसमें केशव को भाषा का सफल कवि माना गया है। वात्स्यायन ने केशव की तुलना अंग्रेजी कवि बेन जानसन से करते हुए कहा है कि 'कहीं कहीं जो चमत्कार को कोई नाराज करता है और बाद निन्दा वहाँ भी असल में केशव भाषा का अध्ययन जरूर करना होगा। जैसे—

> एरी गोरी भोरी तेरी थोरी थोरी हाँसी मेरी
> मोहन की मोहिनी की गिरा की गुराई है।